कहाँ गए वो कचनार के खिले हुए फूल

डॉ. हरीश अरोड़ा,

हिन्दी विभाग,
पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय,
नेहरू नगर, नई दिल्ली–110 065

सुबह की धनकती हुई गुनगुनी धूप, शब्दों से परे अव्यक्त ओस की कनिकाओं से सिंचित मिट्टी की सोंधी–सोंधी महक, चिड़ियों के गूँजते भैरव राग, हिमगिरि के उत्तुंग शिखरों पर श्वेत चुनरी के घुंघट की आड़ में लजाती उषा सुन्दरी और कचनार के गुलाबी फूलों की पंखुरियों की तरह दमकता धरती का चेहरा.....! पृथ्वी के अपार सौन्दर्य की अभिभूत कर देने वाली सर्जना का सर्जक तो मौन है लेकिन साहित्य के विभिन्न छोरों पर प्रकृति के इस अद्भुत विराट नैसर्गिक सौन्दर्य के अनेक चित्र उकेरे हुए मिलते हैं। संस्कृत साहित्य से लेकर हिन्दी साहित्य में प्रकृति की अद्भुत छटाएं सावन में नभ में छाए इन्द्रधनुष की भांति विद्यमान है। लेकिन स्वतंत्रता के बाद सौन्दर्य के इन प्रतिमानों के राग जैसे बिखर गए; ठण्डी हवा के झोंकों सी शीतल बयारों की चाल जैसे थम–सी गई और धरती का खिला हुआ चेहरा जैसे मुरझा सा गया। क्यों.... आखिर क्यों.... ? कहाँ गए हो कचनार के खिले हुए गुलाबी फूल???

पर्यावरण की चिन्ता भारतीय साहित्य में आरम्भ से ही चिन्तन का विषय रही है। वर्तमान साहित्य की ओर यदि दृष्टि उठाकर देखें तो वह संवेदनहीन होता चला जा रहा है। संवेदना का यह संकट ही साहित्य को प्रकृति और पर्यावरण के प्रति चिन्ता से भी दूर करता चला जा रहा है। यदि हम भारत के आरम्भिक संस्कृत साहित्य की ओर दृष्टि उठाकर देखें तो उस समय साहित्य में प्रकृति का विराट बोध रचनाकार को अपनी समूची जीवन चेतना के साथ सम्बद्ध करके रखता है। इसीलिए उस समय के साहित्य में नदियों का जल की कलकल ध्वनि, पक्षियों की चहचहाहट, हवाओं की रुनझुन का मधुर संगीत निरन्तर गूँजता सुनाई पड़ता है लेकिन वर्तमान साहित्य में प्रकृति जैसे हाशिए पर चली गई है। मनुष्य के भीतर ही जब पाश्विक संवेदना ने जन्म ले लिया तो उसकी रचना में संवेदनहीनता की स्थिति आ जाना स्वाभाविक है।

यह सही है कि विगत् वर्षों में मीडिया की सक्रियता ने पर्यावरण को विश्वव्यापी समस्या के रूप में उभारा है लेकिन मीडिया की आवाज़ में पर्यावरण की समस्या सिर्फ एक खबर भर ही है। ख़बर और साहित्यिक रचना में बुनियादी अंतर होता है। जनसंचार के माध्यमों की ख़बरों का सम्बन्ध एक आम सामाजिक को विमर्श करने के लिए तो प्रेरित करता है लेकिन अपनी प्रकृति के प्रति संवेदनशील बनाने में वह असमर्थ होता है। पहले लोगों के घरों की मुंडेरों पर नन्हें–नन्हें पक्षियों के घोंसले हुआ करते थे और उन घोंसलों से झांकती नन्हीं चिड़ियों को इंसान रोज़ दाना–पानी दिया करता था। घर की दीवारों की किसी ओट में बने इस घोंसले से शायद ही इंसान को कभी नफरत हुआ करती हो लेकिन आज की दुनिया में इंसान खुद ही प्रकृति को अपने से काटता चला जा रहा है। पहले तो घरों में मुंडेर ही नहीं बची और अगर कहीं मुंडेर

दिखाई भी देती है तो उस पर चिड़ियों के घोंसले नहीं बल्कि नन्हें बोंसाई पौधों को सजाकर रख दिया गया है। दरअसल पशु–पक्षियों का मनुष्य के साथ यह सम्बन्ध पर्यावरण को जीवित बनाए रखने का सम्बन्ध ही रहा है। जैसे–जैसे हम पशु–पक्षियों से अपने को अलग करते जा रहे हैं वैसे–वैसे पर्यावरण का संतुलन स्वतः ही एक ओर झुकता चला जा रहा है – वहां जहाँ ऊंची–ऊंची पथरीली सभ्यताएं सर उठाए खड़ी हैं और घरों के आस–पास हरे–भरे वृक्षों की जगहों खम्भों पर रोशनियों से जगमगाते बल्बों ने ले ली हैं। जिस तरह से इंसान अपने सामाजिक जीवन में संवेदना के स्तर पर बोंसाई पौधा बन गया हैं उसी तरह से हमारा आधुनिक साहित्य में संवेदना के स्तर पर बोंसाई की तरह बंद दीवारों में कैद जीवन की अभिव्यक्ति कर रहा है।

पर्यावरण वास्तव में है क्या – **परित आवृणोति इति पर्यावरणम्।** अर्थात् सभी ओर से आवृत तथा प्रभावित करने वाले तत्व पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, वनस्पति, वायुमण्डल आदि पर्यावरण हैं। यदि हम भारतीय साहित्य के आदि रचनाकारों की रचनाओं का अवलोकन करें तो वह साहित्य मनुष्य समाज और पर्यावरण के अन्तःसम्बन्धों को पूरी वैज्ञानिकता के साथ सामने रखता दिखाई देता है। ऋग्वेद में तो पृथ्वी को माता तुल्य मानते हुए मनुष्य कहता है कि **हे माते, जब मैं भोजन, औषधियों तथा अन्य साधनों के लिए आपके शरीर पर विद्यमान वनस्पतियों को काटता हूं, आपके शरीर को भेदता हूं, तब मैं आपके प्रति हृदय से समर्पित होकर ईश्वर से यह आराधना भी करता हूँ कि मेरे द्वारा आपके शरीर पर दिए सभी घाव शीघ्र भरें और वनस्पतियाँ भी कई गुना अधिक बढ़ जायें।**

हमारे चारों वेद प्रकृति के साथ सम्बद्ध हैं। ऋग्वेद में अग्नि के रूपांतरण कार्य और गुणों की विस्तृत व्याख्या मिलती है, यजुर्वेद में वायु के गुणों का वर्णन है, सामवेद में जल की प्रधानता पर प्रकाश डाला गया है और अथर्ववेद में पृथ्वी यानि मृदा और आकाश यानि वायुमण्डल का वर्णन मिलता है। इनके अतिरिक्त पुराणों, उपनिषदों, स्तुति ग्रंथों आदि में भी प्रकृति और मनुष्य के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है। मस्त्य पुराण में तो कहा गया है कि **'पानी के अभाव के स्थान पर जो व्यक्ति एक कुंआ खुदवाता है, वह उतने वर्षों तक स्वर्ग में निवास करता है, जब तक कि उस कुएं में पानी की बूंदें रहें।'** प्रकृति और मनुष्य का अन्तर्सम्बन्धों तो सृष्टि के आरम्भ से ही रहा है। भारतीय संस्कृति में तो वृक्षों तक की पूजा–अर्चना की जाती है। भारतीय संस्कृति में पीपल का वृक्ष जिसकी सभी आराधना करते हैं, वैज्ञानिकों शोधों से पता चला है कि **विश्व में यही एकमात्र ऐसा वृक्ष है जो रात को भी कार्बन–डाईऑक्साइड का अवशोषण कर ऑक्सीजन का उत्सर्जन करता है।** श्रीमद्भगवतगीता में तो पीपल की महिमा का गुणगान करते हुए कहा भी गया है कि µ

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।

(श्लोक 15.1)

भारतीय साहित्य में तो प्रकृति के प्रति रचनाकारों का प्रेम ही प्रबल नहीं रहा वरन् प्रेम के लिए भी प्रकृति उनका साहचर्य निभाती दिखाई देती है। प्रकृति तो आलम्बन है उनके प्रेम का, वह मनुष्य की प्रेमिल अनुभूतियों को उद्दीप्त करती है। संस्कृत काव्यधारा में कालिदास की रचनाओं में कवि ने जैसे प्रकृति को सम्पूर्ण रूप से आत्मसात किया हुआ है। माघ, भारवि, हर्ष, कालिदास आदि कवियों की कविताओं में प्रकृति का चित्रण केवल चित्रण भर नहीं है बल्कि इन कवियों ने पर्यावरण के वैज्ञानिक रूप के आधार पर प्रकृति को उद्धृत किया है।

हिन्दी साहित्य में आरम्भ से ही प्रकृति चित्रण की प्रवृत्ति कवियों का प्रिय विषय रही है। किन्तु प्रकृति की अद्भुत छटाओं का वर्णन कर

देने भर से पर्यावरण की चिन्ता का समाधान नहीं हो सकता। प्रकृति की वर्णनात्मकता हिन्दी के आरम्भिक कवियों का महत्त्वपूर्ण आधार रहीं। छायावाद में प्रकृति का रूप बदला और कवियों ने प्रकृति का मानवीकरण किया। प्रकृति यहां सम्बन्धों के रूप में उभर कर आने लगी। प्रकृति का मानवीकरण पर्यावरण को बचाए रखने का एक विशेष आधार बना। प्रसाद और पंत ने तो प्रकृति के अद्‌भुत चित्र खींचे। उसी दौर में प्रेमचन्द और फणीरश्वरनाथ रेणु की कहानियों और उपन्यासों में प्रकृति यथार्थ रूप में अभिव्यक्त होने लगी। वहीं महादेवी वर्मा अपने रेखाचित्रों में प्रकृति के करुण रूप को उजागर करती दिखाई देती हैं। ऐसे में पंत और नागार्जुन जैसे कवियों ने प्रकृति के शोषण के प्रति अपनी चिन्ताओं को शब्द दिए। पंत कह उठते हैं –

मैंने छुटपन में छिपकर पैसे बोए थे
सोचा था पैसों के प्यारे पेड़ उगेंगे
रुपयों की कलदार मधुर फसलें खनकेंगी
और फूल फल बनकर मैं मोटा सेठ बनूंगा
पर बंजर धरती में न अंकुर फूटा
बंध्या मिट्‌टी ने न एक भी पैसा उगला
सपने जाने कहां मिटे, कब धूल हो गए
मैं हताश हो बाट जोहता रहा दिनों तक
बाल कल्पना के अपलक पाँवड़े बिछाकर
मैं अबोध था मैंने गलत बीज बोए थे
ममता को रोपा था, तृष्णा को सींचा था।

यहां ममत्व का अतिरेक मनुष्य की लालसाओं का अतिरेक ही तो है। सुख–साधनों की लालसा ने ही मनुष्य को प्रकृति के साथ खिलवाड़ करने के लिए बाध्य किया। उसी का परिणाम रहा कि भारतीय समाज ने अकाल जैसी विभीषिकाओं का दंश आरम्भ में ही झेला। नागार्जुन ने 'अकाल और उसके बाद' की स्थिति का यथार्थ चित्रण उकेरा ही है। कारण चाहे कुछ भी रहा हो लेकिन प्रकृति का दोहन मनुष्य और प्रकृति सम्बन्धों में तनाव तो पैदा करता ही है। मनुष्य का जीवन उसके आस–पास के लोगों से ही नहीं है बल्कि उसकी समग्रता तो प्रकृति के साथ तादात्म्य में है। विकास की अंधी दौड़ में इंसान प्रकृति के साथ नहीं बल्कि अपने जीवन के साथ ही खिलवाड़ कर रहा है। नदियों पर बांध बनाकर उनकी दिशाओं को मोड़ा जा रहा है, पहाड़ों की छाती चीरकर वहां बड़ी–बड़ी पथरीली सभ्यताओं को विकास का नाम दिया जा रहा है। जंगल तो जैसे नाम–मात्र को ही दिखाई देते हैं। निर्मला पुतुल की यह कविता पर्यावरण के इस दंश के प्रतिरोध का स्वर उठाती है –

देखो! अपनी बस्ती के सीमान्त पर
जहां धराशायी हो रहे हैं पेड़
कुल्हाड़ी के सामने असहाय
रोज नंगी होती बस्तियां
एक रोज माँगेंगी
तुम्हारी खामोशी का जवाब।

इंसान खामोश है। वह खामोश क्यों हैं? क्या इसलिए कि वह अपने सुविधाभोगी जीवन के लिए व्यवस्था के साथ हाथ मिला लेता है! व्यवस्था क्या है? आखिर इंसान की कौन–सी विरासत उस व्यवस्था के हाथों छीन ली जाती है और इंसान फिर भी खामोश रहता है। एकांत श्रीवास्तव अपनी कविता में कहते हैं –

सिर्फ एक हस्ताक्षर किया जाता है,
नीली पड़ जाती है धरती की देह
बुझ जाता है चाँद, सूख जाती है नदियाँ
अदृश्य हो जाते हैं हरे –भरे खेत।
सिर्फ एक हस्ताक्षर किया जाता है
सुनाई पड़ती है बाघ की दहाड़

उड़ जाते हैं सारे सगुन पंछी .....!

आखिर इंसान क्या उस व्यवस्था के हाथों बिका हुआ है या व्यवस्था खुद ही बिकी हुई है। सवाल यह नहीं है कि व्यवस्था ने विकास के नाम पर कोरे कागज़ों पर विकास की इबारत लिखने के लिए हस्ताक्षर कर दिए। सवाल यह भी है कि क्या इंसान ने अपनी सुविधाओं के नाम पर व्यवस्था के साथ समझौता नहीं किया। जब उन सुविधाओं की मांग के लिए पेड़ों पर कुल्हाड़ियों के वार किए जाते हैं तो इंसान उस बूढ़ी होती पृथ्वी के दर्द को समझने की बजाए अपने ड्राईंगरूम में चीड़ की लकड़ी के बने खूबसूरत फर्नीचर पर आराम से बैठकर डिनर कर रहा होता है। लेकिन संवेदनशील कवि यह स्वीकार नहीं कर पाता। वह इंसानियत से ही सवाल कर उठता है –

क्या तुमने कभी सुना है

सपनों में चमकती कुल्हाड़ियों के भय से पेड़ों की चीत्कार

कुल्हाड़ियों के वार सहते–सहते

किसी पेड़ की टहनियों में दिखाई पड़े तुम्हें बचाव के लिए

मुस्कुराते हज़ारों हाथ।

क्या होती है कभी तुम्हारे भीतर कटकर गिरता है

जब कोई पेड़ धरती पर

सुना है कभी रात के सन्नाटे में

मुँह ढाँप किस कदर रोती हैं नदियाँ।

कवयित्री का यह शब्दावेश सहज ही है। उसने जंगलों को अपने सामने उजड़ते देखा, उसने हरे–भरे वृक्ष वनों की जगह सपाट पड़ी ज़मीनों में विशाल इमारतों को बनते देखा। इसलिए स्वानुभूति का यह स्वर आवेश में ही परिवर्तित हो सकताहै। केदारनाथ सिंह तो कह उठते हैं कि

'मुझे चाहिए पूरी पृथ्वी

अपनी वनस्पतियों, समुद्रों

और लोगों से घिरी हुई

एक छोटा सा घर काफी नहीं।'

विकास की इस अंधी दौड़ में प्रकृति को मनुष्य की सहचरी भी न रहने दिया। वह उसका हाथ छोड़कर न जाने कब चली गई और थाम लिया उसका हाथ 'तकनीकी' ने। तकनीक का हाथ थामकर वह विनाश की ओर बढ़ रहा है। रौंद रहा है वह सारी पृथ्वी की छाती को और तहस–नहस कर रहा है वह हरी–भरी दुनिया को, लेकिन उसके हिस्से पथरीली दुनिया के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं बचा –

उसने चाहा तो था

कि वह बढ़िया सा सपना देखे

पर देखता क्या है

कि बच्चे तमाम प्रौढ़ हो चुके हैं

पेड़ तमाम काटे जा चुके हैं

चिड़िया तमाम मारी जा चुकी हैं।

कवि केदारनाथ सिंह कटते हुए पेड़ों की यातना को महसूस करते हैं। एक कटे हुए पेड़ की करुणा की अनुभूति को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं

तुम्हें कोई नहीं बताएगा

कि इस समय

इस कोरे कागज़ पर

तुम जो लिख रहे हो

उसमें

पेड़ों की यातनाभरी चुप्पी भी शामिल है।

पर क्या बाज़ार इस यातना की करुण ध्वनि को सुन पाता है! उसके लिए अर्थतंत्र ही महत्त्वपूर्ण है और वह यातना की विराट गाथा लिखने में व्यस्त

है। किन्तु कवि की इच्छाएं तो कुछ ओर हैं। वह चाहता है –

पिछले साल जहाँ दूब थी
वह जगह नंगी हो गई है
मैं वहाँ
उगने का शोर सुनना चाहता हूँ।

आखिर पर्यावरण की इस त्रासद वेदना का स्वर सबको व्यथित क्यों नहीं करता? जिन नदियों की हम श्रद्धा से आराधना करते हैं उनके जल को प्रदूषित करने वालों के प्रति कौन उत्तरदायी है? क्या केवल मनुष्य की नियति??? क्या विकास की अवधारणा??? आखिर यह सब देखकर मनुष्य कहाँ छिपा है? हरिनारायण व्यास अपनी कविता 'चंद्र ग्रहण' में कहते हैं–

यमुना का जल सड़ गया है
किनारों पर जगह–जगह पड़े हैं
लावारिसों के मुर्दे
सारे शहर की चेतना
उत्तेजना भरी घुटन बन गई है
माहौल में बेबसी है
लोग अपने पिरामिडो में सोए हैं
ममी बनकर।

नई–नई बसती हुई दुनिया के लो खुश हैं कि उनका जीवन वैभव का गौरवशाली इतिहास रच रहा है लेकिन पिरामिडो में सोए हुए इन मनुष्यों से इतर अरविन्द ओझा जैसा युवा कवि चिन्तित है और वह तड़प कर कह उठता है –

मत करो
मेरे शहर का
आकाश
तुम इतना मैला
कि मैं
छत से
देख ही न पाऊं
उजले चाँद का मुँह।

अखबारों में पर्यावरण के प्रति चिन्ता व्यक्त करने वाली खबरों से दुनिया नहीं बदलती। बदलाव तो साहित्यकार लाता है। वह तो जड़ होती संवेदनाओं और लुप्त होते प्राकृतिक संसाधनों के बावजूद भी रचना लिखता है और सदियों के बाद भी लिखता रहेगा –

कवि लिखेगा कविता उस सदी में भी
जब नीम को आप नीम नहीं कह पायेंगे
यह नहीं कि कोई मनाही होगी
दरअसल आस खुद भूल चुके होंगे, उसका नाम
गैर जरूरी हो चुका होगा तब
सूरज भी आपके लिये
हालाँकि वह रोज निकलेगा घड़ियों को चाबी देता हुआ
मछली, हरिण, कुत्ता काले चकतों वाला
खारिज़ होंगे बच्चों की कहानियों से।
दरवाजे भारी भरकम लोहे के
सुनेंगे वहीं दस्तक हवा की भी
कवि लिखेगा कविता उस सदी में भी
लिखेगा और रखता जायेगा
पत्थरों के बीच
खुलेंगी एक दिन वे वहीं
पत्थरों के बीच।

केवल कविता ही नहीं, हिन्दी का कथा साहित्य भी पर्यावरण के प्रति सचेत रहा है। हज़ारी प्रसाद द्विवेदी तो लुप्त होते अशोक के फूल को पुनः जीवन्त कर देते हैं। फगीश्वरनाथ रेणु जंगलों की

अजनबी वनस्पतियों के साथ सहचर भाव अपना परती–परिकथा कह जाते हैं। मृदुला गर्ग पत्थर होती ज़िन्दगियों में भी कठगुलाब उगाने का माद्दा रखती हैं। विनोद कुमार शुक्ल अपनी स्मृतियों की परतों की धूल हटाकर उन दीवारों में प्रकृति के परम्परागत रूप की तलाश करते हैं जहाँ दीवार में एक खिड़की रहती थी।

चाणक्य ने किसी प्रसंग में कहा था कि साम्राज्य की स्थिरता पर्यावरण की स्वच्छता पर निर्भर करती है। इसलिए जरूरत है कि पर्यावरण को लेकर साहित्यकार ही नहीं वरन् आम सामाजिक को भी चेतना होगा। यदि पर्यावरण की चिन्ता न की गई तो हमारी प्रकृति के अभिन्न तत्व गूगल के सर्च इंजन के किसी लिंक में तस्वीरों के रूप में कैद होंगे या फिर धूल से सनी किसी लाइब्रेरी की किताबों के पीली पड़ चुके पन्नों में धुंधली तस्वीरों के रूप में। इसलिए जरूरी है कि हम प्रकृति को उसका विराट रूप में पुनः लौटायें ताकि आगे आने वाली पीढ़ियां कचनार और कनेर के खिलते हुए फूलों से बात कर सकें, घर की मुंडेर पर बोंसाई की जगह नन्हीं–नन्हीं चिड़ियों की किलकारियों से अपनी सुबह की शुरुआत कर सकें, लहलहाते हुए खेतों में बनी मचान पर बैठकर दूर तक हरी–भरी वसुंधरा को मुस्कुराता हुआ देख सकें। वरना आने वाला वक्त कहीं विकास की ऊंची इमारतों के कारण पर्यावरण का असंतुलन विनाश की इबारत ही न लिख दे।